संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य
[STRUCTURAL-FUNCTIONAL PERSPECTIVE]

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अध्ययनों में प्रयोग किया जाने वाला एक प्रमुख परिप्रेक्ष्य माना जाता है। इसका विकास मुख्यतः उद्विकासवादी, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिप्रेक्ष्यों की सीमाओं को दूर करने के प्रयास के परिणामस्वरूप किया गया है तथा इसमें काफी हद तक सफलता भी मिली है। उद्विकासवादी एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में ऐतिहासिक पुनर्निर्माण (Historical reconstruction) के लिए काल्पनिक, अप्रमाणित एवं अव्यवस्थित तथ्यों का अत्यधिक प्रयोग किया जाने लगा था क्योंकि उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी अध्ययनों (जोकि उद्विकासवादी एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों द्वारा मुख्य रूप से किए जाते हैं) में जिन अवस्थाओं या स्तरों के बारे में तथ्य उपलब्ध नहीं थे उनके बारे में कल्पना मात्र का सहारा लिया जाने लगा था। ऐसे ही, सामाजिक मानवशास्त्र में तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भी कुछ विद्वानों ने सरल एवं सतही अध्ययनों तथा काल्पनिक तथ्यों का प्रयोग करना शुरू कर दिया था। समाजशास्त्रियों ने यह सोचना शुरू किया कि अगर हम काल्पनिक तथ्यों का सहारा लेकर अपने अध्ययन करते रहे, तो हम इस विषय (समाजशास्त्र) को कभी विज्ञान नहीं बना पाएँगे, अतः अध्ययन एवं अनुसन्धान के एक ऐसे परिप्रेक्ष्य का विकास किया गया जिसमें काल्पनिक तथ्यों पर आधारित अध्ययन न करके वास्तविक तथ्यों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। यह परिप्रेक्ष्य संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य अथवा प्रकार्यवाद के नाम से जाना जाता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य द्वारा उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी पहलुओं की अपेक्षा अध्ययन की इकाई के वर्तमान स्वरूप की ओर ध्यान दिया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य द्वारा आज किसी इकाई का विश्लेषण उसकी संरचना एवं प्रकार्यों के आधार पर किया जाता है अर्थात् यह जानने का प्रयास किया जाता है कि किसी इकाई के विभिन्न अंग कौन-से हैं तथा वे उस सम्पूर्ण इकाई को बनाए रखने में क्या योगदान देते हैं?

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का अर्थ
(Meaning of Structural-Functional Perspective)

आज समाजशास्त्रीय अध्ययनों में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य एक प्रमुख सिद्धान्त माना जाता है। यह परिप्रेक्ष्य इस आधारभूत मान्यता पर आधारित है कि समाज या सामाजिक संरचना का प्रत्येक अंग व इकाई सम्पूर्ण समाज या संरचना को बनाए रखने के लिए निश्चित योगदान प्रदान करती है। समग्रता को बनाए रखने में योगदान देने के कारण इकाइयाँ अपरिहार्य एवं अनिवार्य हैं। यह इस मान्यता पर भी आधारित है कि समग्र के विभिन्न अंगों की सामाजिक क्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। यह परिप्रेक्ष्य प्रारम्भिक समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में प्रयोग की जाने वाली उद्विकासवादी, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों की सीमाओं को दूर करने के प्रयासों के परिणामस्वरूप विकसित किया गया है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य द्वारा सामाजिक इकाई (समाज के विभिन्न अंगों, समुदाय, समिति, संस्था इत्यादि) के प्रकार्य को जानने का प्रयास किया जाता है। प्रकार्य सामाजिक इकाई का परिणाम है जो समाज की निरन्तरता या अस्तित्व को बनाए रखने से सम्बन्धित किसी आवश्यकता को पूरा करता है। इस परिप्रेक्ष्य द्वारा हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि अमुक इकाई सम्पूर्ण व्यवस्था या समाज के अस्तित्व को बनाए रखने में क्या योगदान प्रदान करती है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग अनेक रूपों में किया गया है। वस्तुतः यह अनेक उपागमों, परिभाषाओं की व्यवस्थाओं एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणार्थ, **मैलिनोव्स्की** (Malinowski) ने व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद (Individualistic functionalism), **दुर्खीम** (Durkheim) ने सामाजिक प्रकार्यवाद तथा **रैडक्लिफ-ब्राउन** (Radcliffe-Brown) ने संरचनात्मक-प्रकार्यवाद प्रस्तावित किया, तो **पारसन्स** (Parsons) ने सामाजिक-संरचनात्मक एवं व्यक्तिवादी प्रकार के प्रकार्यवाद का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

डेविस (Davis) ने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य को एक सिद्धान्त माना है तथा इसे समाजशास्त्र में अन्य पद्धतियों एवं सिद्धान्तों से अलग करने का प्रयास किया है। **होमन्स** (Homans) ने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य को एक पद्धति कहा है, जबकि **इंकलिस** (Inkeles) ने इसे एक दृष्टिकोण माना है। इंकलिस के अनुसार संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य समाज को परस्पर सम्बन्धित इकाइयों के रूप में देखने का प्रयास करता है न कि व्यक्तियों या समूहों के रूप में। इसमें जो प्रमुख प्रश्न पूछा जाता है वह यह है कि 'पीढ़ियों के बदलने से समाज की सदस्यता में समयानुकूल परिवर्तन होने के बावजूद सामाजिक जीवन किस प्रकार से व्यवस्थित रहता है?' इस प्रश्न का मूल उत्तर यह है कि 'सामाजिक जीवन में व्यवस्था इसलिए बनी रहती है क्योंकि समाज ऐसे साधन (संरचनाएँ) ढूँढ लेते हैं जोकि संगठित सामाजिक जीवन को बनाए रखने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं (प्रकार्यों) को पूरा करते हैं।' अन्य शब्दों में, इस परिप्रेक्ष्य द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि समाज की विभिन्न संरचनाएँ एक व्यवस्था के रूप में समाज को बनाए रखने हेतु किस प्रकार परस्पर समाकलित हैं।

समाजशास्त्रियों में **दुर्खीम** (Durkheim), **मर्टन** (Merton) तथा **पारसन्स** (Parsons) तथा मानवशास्त्रियों में **मैलिनोव्स्की** (Malinowski) व **रैडक्लिफ-ब्राउन** (Radcliffe-Brown) के नाम इस दृष्टिकोण के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। ग्रामीण समाज का अध्ययन करने वाले अधिकांश भारतीय समाजशास्त्रियों ने इसी परिप्रेक्ष्य को अपनाया है। इनमें एस० सी० दुबे (S. C. Dube) तथा एम० एन० श्रीनिवास (M. N. Srinivas) प्रमुख हैं।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य की आधारभूत मान्यताएँ
(Basic Assumptions of Structural-Functional Perspective)

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य कुछ आधार-वाक्यों एवं प्रस्तावनाओं पर आधारित है जिन्हें हम इसकी मौलिक मान्यताएँ कह सकते हैं। इसकी आधारभूत मान्यताएँ निम्नांकित हैं—

(1) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण, अंगों या तत्त्वों की तुलना में समग्रता या व्यवस्था को अधिक प्राथमिकता देता है। संरचनात्मक-प्रकार्यवादियों के लिए व्यवस्था का अर्थ विभिन्न अंगों द्वारा निर्मित एक ऐसा समग्र है जिसके अंग परस्पर सम्बन्धित हैं तथा वे उस समग्र को बनाए रखने के लिए निश्चित योगदान देते हैं।

(2) व्यवस्था के विभिन्न अंग या तत्त्व प्रकार्यात्मक रूप से परस्पर जुड़े हुए होते हैं। एक अंग या तत्त्व के अपना सामान्य कार्य ठीक प्रकार से करने के लिए तथा व्यवस्था को बनाए रखने के लिए यह अनिवार्य है कि अन्य अंग या तत्त्व भी अपना सामान्य कार्य ठीक प्रकार से करें।

(3) व्यवस्था का प्रत्येक अंग व्यवस्था को बनाए रखने हेतु एक निश्चित सकारात्मक प्रकार्य करता है अथवा नकारात्मक रूप में विघटन या परिवर्तन लाने का विरोध करता है। अतः इसके द्वारा अस्तित्व के लिए अनिवार्य प्रकार्यों एवं अकार्यों का अध्ययन किया जाता है।

(4) प्रत्येक व्यवस्था अंगों या तत्त्वों की एक समाकलित व्यवस्था होती है जोकि एक सावयवी समग्र का निर्माण करती है।

(5) प्रत्येक समाज की अपेक्षाकृत स्थायी संरचना होती है तथा इसमें स्वनियन्त्रण के यन्त्र पाए जाते हैं। इन यन्त्रों द्वारा ही समाज अपना सन्तुलन बनाए रखता है।

(6) सामाजिक व्यवस्था का ठीक प्रकार से कार्य करना सदस्यों के सामान्य लक्ष्यों एवं मूल्यों से सम्बन्धित उन लक्ष्यों के बारे में मतैक्य पर निर्भर करता है जोकि समाज की मौलिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं।

(7) समाज की प्रमुख दशा स्थायित्व एवं मतैक्य है, न कि दबाव एवं विरोध पर आधारित संघर्ष।

(8) प्रत्येक व्यवस्था को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। ये पूर्व-आवश्यकताएँ सदस्यता, उनकी मौलिक आवश्यकताओं, उनके कार्यों एवं भूमिकाओं, उनके लक्ष्यों एवं साधनों, समाजीकरण, व्यवहार पर नियन्त्रण, संचार तथा पर्यावरण से सुरक्षा से सम्बन्धित हो सकती हैं।